Alexander Pope, 1688-1744

समालोचनादर्श

अर्थात्

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि अलेकज़ेन्डर पोप लिखित 'एसे आन् क्रिटिसिज़्म' का पद्यमय (हिन्दी) अनुवाद

जिसे

जगन्नाथदास (रत्नाकर) बी० ए०

ने

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अनेक सभासदों के आग्रह से लिखा

और जिसे

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका द्वारा प्रकाशित किया।

BENARES :

THE CHANDRAPRABHA PRESS CO. LD.

1896.

यह अनुवाद

हिन्दी भाषा के परम प्रेमी

तथा हिन्दी कविता

के गुणग्राही

महानुभाव

श्रीयुत डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन महाशय

पी० एच०, आई० सी एस०, सी आई० ई० (इत्यादि)

को

कर कमलों

में

अनुवादक द्वारा

सादर समर्पित है।

समालोचनादर्श *

(बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) बी० ए० द्वारा अनुवादित)

असद काव्य औ सम्मति मैं, यह कठिन न्याव अति,
बुद्धिरंकता अधिक प्रकासत कौन, धीरमति;
पै, दोउ दोषन मैं, बरबस उकतैबो चित कों
न्यून हानिकारक, सुबिवेकहिँ बहकावन सों·
चूकत, वामैं कछू एक, यामैं अनेक हैं;
दूषित दूषन देत दौरि दस, लिखत एक हैं·
कूर कोऊ इक बेर जगत मैं निजहिँ हँसावै,
पै कुपद्य कौ एक गद्य मैं, किते बनावै·
नरबिबेचना, घड़िन समान, मिलतिँ द्वै नाहीं,
पै अपनी अपनी कौं सब पतियात सदाहीं·
कबिन माहिँ सदकाव्यसक्ति बिरलय ज्यौं आई,
त्यौं बिबेचकनिभागे रसास्वादनलघुताई;
दैव दियें बिन सुभग सक्ति दोऊ नहिँ पावत,
लिखन हेत, कै तर्क हेत, जे यह जग आवत·
ते सिखवन के योग्य आप जे होहिँ कुशलतर,
ते दूसहिँ तौ फबै आप जिन कियो काव्य वर·
निज रचना कौ पच्छ, सांच यह, करतँ माहीं;
पै निज मत कौ कहा बिबेचक कौं हठ नाहीं?
पै, करि गूढ़ बिचार, चारुमति मत यह भाषत,
बहुधा मनुष बिबेकबीज निज हिय मैं राखत·

* Pope's Essay on Criticism.

कम सों कम इक अल्प प्रकास प्रकृति दिखरावति;
रेखा, जदपि अपष्ट तदपि, सुध खंचित भावति·
पै उहस ढांचो उत्तम औ सुभग चित्र को,
जदपि यथारथ बिरचित लसत, ललित चरित्र को,
भरें रंग बेढंग भदेस तदपि ज्यों भासै,
त्यों निकाम विद्या सुबुद्धि कों बिसिष बिनासै:
बिद्यालयजालन मैं केतिक हैं बौराने,
बने भँडेहर किते, प्रकृतिकृत कूर अयाने·
चमत्कार की खोज माहिँ निज बुद्धि नसावैं,
तब अपने बचाव कों बनन बिबेचक धावैं;
दह्यो जात प्रत्येक, सकै कछु लिखि कै नाहीं,
प्रतिद्वंद्विन, क्लीवन के से द्वेषानल माहीं·
रहत सदा बुधिबिगत बिरावन कों अकुलाने,
हँसनहार दल माहिँ मिलत अति आनँद साने·
होत कुकबि कोउ, कछु खंचाय, जो सारदद्वेसी,
ताकाव्यहु तें तौ केतन को जांच भदेसी·
केते कोबिद बने प्रथम, पुनि कबि मनमाने,
बहुरि बिबेचक भये, अन्त घोंघा ठहराने·
किते न कोबिद न बिबेचक पद के अधिकारी,
जैसे खर न तुरंग होहिँ कहुँ खचर भारी·
ये अधपढे बुधंगड़ जग मैं भरे घनेरे,
अर्द्धबने ज्यों कीट नील सरिता के नेरे,
ये अनबने पदार्थ कौन संज्ञा अधिकारी
परत न जानि, पौध इनको ऐसो भ्रमकारी;
बदन होहिँ सत तौ इनकी गनना करि आवै,
कै इक मिथ्या बुधको, जो सौ सहज थकावै·
पै तुम जो सदसुयस देन पावन अधिकारी,

सुबिवेचकपद परम पुनीत यथारथधारी,
छोड़ु आप हठ, पहुंच आपनो कों परमानो,
कहँ लगि निज बुधि, रसअनुभव, विद्यागम जानो;
अपनो थाह बिहाय बढ़ौ मत, गुनि पग धारौ,
अथ, शिथिलता मिलनठाम धरि धीर बिचारौ·

सकल बस्तुकों प्रकृति यथारथ सीमा दीन्हो,
अभिमानिन को मति विदलित, बिबेक करि, कीन्हो:
ज्यों जब एक ओर महिकों बढ़ि वारिधि बोरत,
आन दिसानि महान थान बलुवे बहु छोरत;
त्यों जब हिय मैं रहति धारना को अधिकाई,
प्रौढ समुझ की सक्ति रहति बलहीन लजाई;
जहां कल्पनाज्योति जगति अति जगमगकारी,
बहति धारना की कोमल आकृति बनि बारी·
एक बुद्धि के जोग सास्त्र एकहि सुखदाई;
विद्या इतो अपार, इतो नरमतिलघुताई:
बहुधा एकहु शास्त्र सम्हारति इक मति नाहीं,
ताहु मैं अरुझाति एकही साखा माहीं·
पूर्वप्राप्त हमलोग नृपतिगनसरिस गंवावैं,
ज्यों ज्यों तृष्णाबिबस अधिक लहिबे कों धावैं;
जामैं जाको गम्य ध्यान राखै ताही को,
तौ करि निज अधिकारप्रबंध सकै सब नीको·

प्रकृतिप्रभाव निहारि प्रथम निज सुमति सुधारो
ताके जांचजन्त्र सों जो नित इकरसवारो:
प्रकृति अचूक, सदा सुन्दर दैवो द्युति वारी,
विमल, विगतपरिवर्तन, औ सब जगउजियारी,
सब कहु कों दायनि जीवन, बल, औ सोभा की,

कारण, औ उद्देश्य, कसौटी सकल कला की·
तेहि भँडार सों, कला, कुशलता उचित प्राप्त करि,
बिन दिखाव निज काज करति, प्रभुता अतंक दरि;
त्यों सुज्ञानप्रद आत्मा कोउ सुन्दर तन माहीं
जीवन दे पोषति, सु ओज सों भरति सदाहीं,
प्रतिगति सोधति, अपर सकल स्नायुहिं पोषति नित;
आप अदिष्ट सदा, पै कारज माहिँ रहति थित·
किते, चातुरी जिन्हे दैव दीन्हो बिशेष चित,
चहत तेतिये और, सुभग ताके प्रयोग हित;
बहुधातर्क ऽरु वाक्यचातुरी प्रतिअपकारी,
जदपि बने हित हेत परस्पर, ज्यों नर नारी·
काव्यतुरंग सुढंग चलावन मैं चतुराई,
ताके तातें करन माहिं कछु नाहिँ बड़ाई;
काज कठिन अति ताकी बलादताको सासन,
देबो द्रुत दौराय न कछु गौरव परकासन;
यह बाजी परदार, सुसील असील तुरोलों,
प्रगटत पूरण गुणप्रभाव रोको तुम जों जों·
नियम पुरातन आविस्कृत, जो कृत्रिम नाहीं,
आहिँ प्रकृति, पर प्रकृति घिरी परिमित पथ माहीं;
प्रकृति होति केवल, स्वतंत्रतालों, प्रति बंधित,
तिनहि नियम सों पहिले जो ताही के निर्मित·
गुनहु भारती निर्मेति कहा नियम उपकारी,
कहां शिथिलता उचित, गाढ़िता कहँ रसवारी:
निज सन्तानहिँ उच्च मेरु गिरि पैं दिखराये,
अति दुर्गम ते पन्थ चले तिन पैं जे भाये;
पुरस्कार थाई, ऊंचो करि, दूर दिखायो,
सोई पथ सों चलनकाज औरनि उकसायो·

उचित उदाहरणन मैं सद सोचा जो थाई,
इन संची उनसों, उन देव कृपा सों पाई·
सहृदय, सुधर विवेचक कवि उत्साह बढ़ायो,
पूरितप्रमा प्रसंसा करिबो जगहिँ सिखायो;
समालोचना तव कविता को सखी सुहाई,
मंडनि सोभा, तथा विसेष करनि मनभाई·
पै पछिले लेखक सो सुभ उद्देस भुलाने,
सके नायिकहिँ मोहि नाहिँ दासहिँ अरुझाने ;
कविनविरुद्ध प्रयोग किये तिन निज बल तीखे,
निश्चय निन्दन हेत तिन्हैं जिनसों सब सीखे·
त्यों सीखे कछु आजकाल के औषधिवाले,
बैद व्यवस्थनि पढ़ि, बनि बैठन बैद निराले,
निडर प्रयोग करन मैं नियम निपट मनमाने,
करत चिकित्सा, औषधि, कहि निज गुरुहिँ अयाने·
किते पुरातन कविन लेख पर दांत लगावैं,
इनके सद्दस न काल, न कीट, कबहुँ बिनसावैं·
केते सूखे स्पष्ट, रहित नव उक्ति सुहाई,
शिथिल नियम निर्मत कैसें करिबो कविताई·
ये, विद्या प्रकास हित, अर्थानन्द नसावैं,
वे अनर्थ करि अर्थ तातपर्यहिँ बहकावैं·
तातें तुम जिनको विवेचना रखति सुपथरति,
चालचलन प्राचोनन को जानो आछो गति;
तिन गाथा, अरु वर्ण्य, प्रयोजन प्रति पंक्तिन के
धर्म, देस, प्रतिभा, जो सुखद समय मैं तिनके:
आछो भांति ध्यान राखें बिन इन सबही कें,
जदपि सकौ करि तुम कुतर्क, पर न्याव न नीकें·
बालमीकमुनिरचित सदा अध्यवहु सुरुचि करि,

पढ़ौ ताहि भर द्यौस, रैन भर गुनौ ध्यान धरि;
तासों बिसद बिबेक लहहु, निज नियम ताहि सों,
कबिता बिमल बारि संचौ सरिता आदहि सों·
आपुसही मैं करि मिलान तेहि काव्य बिचारो,
आदि सुकबि की बानो निज चरचा निरधारो·
कालिदास जब प्रथम उदार हियें निरधारी
अमर भारतहुसों रचना चिरिजीवन हारी,
समालोचकनिनियमगम्य सों उच्च लखान्यो,
सोख लेन औरन सों दूषित प्रकृतिकुट मान्यो·
पै जब प्रति खंडहिँ करि सूच्छम दृष्टि विचार्‍यो,
बालमीक अरु प्रकृति माहिँ नहिँ भेद निहार्‍यो·
यह निश्चय उर माहिँ आनि अति बिस्मय पायो,
निज रचना उदंडगति के बेगहिँ ठहरायो;
औ कबिता श्रमसाध्य अटल नियमनि यों नाधो,
मनहु आप मुनि भरत शुद्ध प्रति पंक्ती साधो·
यासों सीखो नियम पुरातन के गुन गावन;
प्रकृतिपंथ को है चलिबो तिनपथ को धावन·
  किती रम्यता अजौं न कोउ बचननि कहि आवैं;
तिन मैं आनंद औ बिषाद दोउ मिश्रित भावैं·
काव्यकला संगीतसरिस जानौ मनमाहीं,
दोऊ मैं सौंदर्य किते जे उचरत नाहीं;
तिन्हैं सिखावनजोग सूत्र कोऊ कहुँ नाहीं,
केवल परम प्रबीनन के आवत कर माहीं·
जहँ कहुँ कोऊ नियम होहिँ न समर्थ यथारथ,
(काहे सों के नियमकाज साधन उद्देस पथ,)
तहं अभीष्ट जो कोउ स्वतंत्रता सुभगति साजै,
तौ स्वतंत्रताही ता थल को नियम बिराजै·

जो प्रतिभा, कबहूं लाघव सों करि अति प्रीती,
छोड़ि नियत पथ चलै भलें तौ नाहिँ अनीती;
करि उदंड क्रमच्युति समान मर्यादहिँ त्यागै,
लहै कोउ लावन्य जो न नियमनि कर लागै,
बिना जांचही जो हिय मैं अधिकार जमावै,
सकल इष्टफल एक बारही सहज लहावै·
तैसहि बन इत्यादिक सुभग दृश्य मैं भारी,
होत पदारथ ऐसे किते नैनरुचिकारी,
जो सुप्रकृतिसामान्यसीम सौं निकरत न्यारे,
आकृतिहीन पहार, तथा अति बढ़े करारे·
सुकबि, प्रसंसनीय बिधि, भलहिँ नियम कहुँ तोरहिँ,
करहिँ दोष जेहिँ सोधन सद जांचकसाहस * नहिँ·
पै जद्यपि प्राचीन कबहुँ निज नियमहिँ तोरैं,
(ज्यों बहुधा राजा निजकृतबिधि सों मुख मोरैं,)
सावधान पै, अहो आधुनिक ! तुम नित रहियो,
दिखरायो जो सुखद पन्थ तिन सोई गहियो;
तोरनही जो परै नियम कोउ इष्टलाभहित,
तौ ताकी उद्देश्यसीम नांघौ न कदाचित;
सो पुनि कबहुंहि करौ, तथा अति आवश्यक गुनि;
औ उनके प्रमान, ता तोरन मैं, राखौ चुनि·
नातरु खंडक दयाहीन निज कलम चलैहै,
ख्याति तिहारी लै प्रचार निज नियमनि दैहै·
या जग मैं केते घमंडकरि इमि मतिमूसित,
शुभ आर्षकुस्वतंत्रसोभा जिनलेखैं दूसित·
रूपक कोउ भयंकर औ भदेस अति भासै,
लखें पृथक करि, कै ह्वै अति नेरें, अन्यासै,

* इस लेख भर में 'जांचक' शब्द जांच करनेवाले विवेचक, के अर्थ में प्रयोग किया गया है

जो, केवल निज प्रभा, ठाम सुन्दर अनुहारी,
लहत उचित अन्तर सौं आकृति, सोभा प्यारी·
चतुर सेनपहिं नित न अवश्यक बल दिखरावन,
बांधि बराबर दलनि, जुद्धकरि सुद्ध सुभावन;
देस काल अनुसार उचित ताकौं आचरिबो,
गोपन सेना कबहुं, भासि भाजत कहुं परिबो·
बहुधा छल भूषन ती जे दूषन दरसाने,
बालमीक जंघ्यो न, स्वप्न मैं हमहिँ भुलाने·
अजौं लतनिक्षत हरित पुरातन देवल राजैं,
उग्र धर्मद्रोहीकरपहुँचन सौं छबि छाजैं·
बचे दाह सौं, तथा द्वेष के भीषम रोष सौं,
सत्यानासी जुद्ध, कालहू सर्बसोष सौं·
लखहु! प्रदेसन सौं बुध धूप दीप लै धावत!
सुनहु! सकल भासा मैं सब इकमत गुन गावत!
ऐसी उचित स्तुति मैं सब निज बानि मिलावौ,
सब जग मिलि जो गाय रह्यो तामैं सुर लावौ·
धन्य छत्रधर सुकबि! समय सुभ जीवनधारी,
सकलजगतअस्तुति के उचित अमर अधिकारी,
बढ़त मान जिनको ज्यौं ज्यौं जुग अन्तर पावैं,
जैसे नद चौड़ात चले आगे नित आवैं;
भूभविष्यनरजाति रावरो सुयस सरैहैं,
अबहिँ गुप्त जे भूमि सोऊ सब गुनगन गैहैं!
अहो स्वयं परकास! करै कोउ किरन तिहारी
तुव सन्तान अधम, अन्तिम के उर उजिआरो,
(निबलपच्छ जो दूरहिँ सौं तुवउड़नि पछावै;
उत्तेजित पढ़ि होत, कँपत कर कलम उठावै)
मृषा बुधनि दिखरावन हित यह गुप्त ज्ञान बर,

सुमति सराहन श्रेष्ट, रखन संसय अपनी पर.

सकल कारननि मैं जे अन्ध करन जुरि आवैं
चूकभरी नरमतिहिँ, तथा चित कों बहकावैं,
सो जो निर्बल हियें प्रबलतम जोर जमावै,
है घमंड, जो दोष निरंतर कुबुधिहिँ भावै.
सदगुण की जो करत न्यूनता दैव भँडारी,
ताको पूरति करत घमंडथोक दै भारी;
ज्यों तन मैं त्यों आत्मा हू मैं परत लखाई,
जो बल, रक्तविहीन, भरित सो बात सदाई ;
बुधि जहँ थकति घमंड तहाँ बनि आन पधारै,
सुमतिहीनताकृत खालहिँ पूरित करि डारै.
साधु बिवेक एक बारहु जो सो घन टारै,
सत्य सूर्य की प्रबल प्रकास हियहिँ उँजियारै.
अपनी मति पर अँड़हु न; वरु निज त्रुटि जानन हित,
लेहु काज प्रति मित्रन, औ प्रति सत्रुन सों नित.

अनरथमूल महान क्षुद्र विद्या छिति माहीं;
पीवहु सरसुतिरस अघाय कै चीखहु नाहीं :
क्षुद्रघूंट याको चित्तहिँ अतिसय बौरावै,
पै पीबो आवृत्त ठिकाने पुनि तेहिँ ल्यावै.
बानिदान सों उत्तेजित ह्वै आदि माहिँ नर,
निडर जवानी मैं, ललचात कला शृङ्गन पर,
औ अपने परिमित चित की पुहुमी सों देखै
निकट हग्यहो, पाछे को प्रस्ताव न पेखै;
पै विचित्र विस्मयजुत अवलोकत आगे बढ़ि
अमित शास्त्र के दूर दृश्य नूतन आवत कढ़ि !
प्रथम रीझि त्यों हम हिमगिरि चढ़िबो अभिलाषैं,

खाड़िन पैं चढ़ि जानि लेत नभ पैं पग राखैं !
ज्ञात होत हिमदल सदैवयाई पछियाने,
प्रथम शृङ्ग औ मेघ परत अन्तिम से जाने;
पाय उन्हे पै हम इत उत कातर ह्वै देखैं,
वर्द्धमान श्रम परिवर्द्धित मग को जब पेखैं;
अति अधिकौहैं दृग्य चपल चल पखहिं थकावैं,
शृङ्गन ऊपर शृङ्ग गिरन पैं गिरि चलि आवैं !
पूरण आँचक पहिलें पढ़हिं ग्रन्थ कविता को
सोई दृष्टि सों जासों रच्यो रचयिता ताको :
जाँचहि सोधि समस्त, न लघु छिद्रनि मन लावै
जहाँ प्रकृति आचरहि, चोप चित चाक चढ़ावै;
तेहि मात्सरिक मन्द सुखहित खोवै नहिं मन को
अति उदार आनंद कबितगुन पैं रीझन को·
पै ऐसी गीतन पैं जिन मैं ज्वार न भाटो,
शुद्ध शिथिल, औ नीच धरें एकै परिपाटी,
दोषन सों बचि एक मन्द गति जो नित राखत,
निन्दा उचित न, बरन सुचित निद्रा बुध भाषत,
कबिता मैं, ज्यों प्रकृति दृश्य मैं, जो मन मोहै,
प्रति अंगन को पृथक सुडौलपनो नहिँ सो है;
जेहिँ सुन्दरता कहत, अधर, दृग सो जनि जानो,
पै मिश्रत प्रभाव, सबको परिणाम बखानो·
जैसे जब कोउ सुघर रचित मन्दिर अवलोको,
विस्मयकारक सब जग को, औ भारतहु को,
भिन्न भाग नहिँ पृथक पृथक अजगुत उपजावैं,
सब मिलि एकहिबार लुभौहैं दृगनि रिझावैं;
कोउ उचान, लंबान, न तो चौड़ान भयंकर;
सब मिलि अति उत्कृष्ट लसत अरु अति सुडौलवर·

जे चाहत देखन सब विधि अदोष कबिताई,
सो चाहत जो भई, न है, न होहिगी, भाई·
प्रतिरचना मैं करता को उद्देश्य बिचारो,
(उन अभीष्ट सों अधिक कोऊ नहिँ बूझन हारो,)
औ जो साधक योग्य, तथा व्यवहार उचित बर,
तो जस भाजन, क्षुद्र छिद्र कहुं रहिबेह्र पर·
अभ्यस्तनि, औ, कबहुँ, सुमतिनि परत यह करिबो,
गुरु दूषण परिहार हेत लघु दोषण धरिबो :
ग्रब्दायुधसाहित्यकारकृत नियम भुलैबो,
[पै प्रसंस्य कहुँ किती तुच्छ बस्तुहिँ बिसरैबो·]
बहुत बिबेचक, अनुरागी कोउ गौन कलाकै,
अंगिहि चाहत रखन अधीन अङ्गके ताकै;
झाड़ैं नित सिद्धान्त, गुनैं पै उपजहिं प्यारी,
रुची मूढ़ता इक पैं करहिँ सबहि बलिहारी·

कोऊ भडंगी सूर, कथा यह प्रचलित जग मैँ,
भेंट भए इक बेर कहूँ कोउ कबि सों मग मैँ,
सुभ साहित्यकठिनचरचा मैं अति अनुराग्यो,
दूषन, भूषण के बिचार करिबे मैँ लाग्यो,
बचन चातुरी औ गंभीर भाव ऐसें करि,
करत बिदूषक रंग भूमि पै जैसें पग धरि;
अन्त कियो निरधार सकल ते अति मतिहीने,
भरतनियत नियमनि बाहर जिन हठि पग दीने·
ह्वै प्रसन्न कबि लहि जांचक ऐसो बुधिवारो,
दिखरायो निजकृत नाटक औ सम्मति चाहो;
विषय लखायो, औ रचना प्रबंध तेहि माहीं
रीति, भाव, समता, क्रम; अपर कहा कछु नाहीं?

सो सब सुद नियम सों निज प्रकास तहँ पायो,
पै केवल इक जुद्धकर्म नाहिंन दरसायो·
"हैं ! यह कहा, जुद्ध त्यागन कैसो ?" बोल्यो सो·
हां, नातरु चलिबो ह्वै है मत त्यागि भरत को·
सो पुनि कह्यो रिसाय "देव सों ! सो कछु नाहीं,
हय, गज, रथ, पायक, ल्यावहु सब रँगथल माहीं·"
रंगभूमि मैं आय सकत एतो न झमेलो·
"तो नूतन निरमौ, कै कढ़ि कछार मैं खेलो·"

या बिध जाँचक लघु बिबेक, औ बहुसिड़वारे,
अद्भुत पै नहिँ सुघ्र, शुद्ध नाहिं, खुसुर पियारे,
लघु भावनि सों भरैं; तथा इक अंगरुचिपेरे,
दूषित करहिँ कलहिँ, ज्यों व्यवहारहिँ बहुतेरे·

केते केवल उत्प्रेच्छहि मैं निजमति नाधैं,
चमत्कात कोउ जुक्ति खोजि प्रति पंक्तिनि साधैं;
कोउ रचना पर रीझि न जहँ कछु योग्य, यथारथ,
एक बुद्धि को चाल मेल, औ अस्तव्यस्त अथ·
कवि या भांति, चितेरन लौं, लिखिबे मैं अकुशल,
प्रकृति बनावट रहित, सहित जीवन शोभा कल,
हेम, रतन के पोटन सों प्रति अङ्ग दुरावैं,
निज छमता को छिद्र अलंकारन सों छावैं·
सांचो कला कुशलता, अति मनरंजनहारो
है, सजिबो सब साज प्रकृति सोभा उपकारी,
भयो पूर्वह्न जो चिन्तित बहुधा मन माहीं,
या सुघराई सों पाया प्रकास पर नाहीं;
सो कछु जाको साँच प्रमाणित सब कोउ पावे,
चित्र हमारे हिय को जो हमकों दरसावे·

ज्यों छाया प्रकास को आनँद अधिक बढ़ावै,
सहज सरलता उक्तिचमत्कृति त्यों चमकावै·
कोउ रचना मैं उक्तिअधिकताही अपकारी,
ज्यों शोणित विशेषता सों बिनसैं तनधारी·
अन्य किते निज सकल ध्यान भाषहि पर राँचैं,
नर नारिन लौं, ग्रन्थन कौं बसननि सों जाँचैं;
'लसति रीति उत्कृष्ट,' सदा यों भाषि सराहैं,
दूरि अभिमान, अर्थ पर करि संतोष, निबाहैं·
शब्द लसैं पातन लौं; जहँ तिनकी अधिकाई,
तहँा अर्थफललाभ विशेष न देत दिखाई·
काच पहलवारे लौं, देति वृथा वाचाली
प्रति ठामन कौं निज भँड़ेहरी रंगप्रभाली;
परत पेखि नहिँ प्रकृतियथारथरूप रसीली,
सब इक रँग झलमलत, भेद बिन अति भड़कीली;
पै सदशब्दप्रयोग, रहित परिवर्तन रवि लौं,
करत प्रकासित जाहि बढ़ावत तेहि सुखमाकौं;
करत परिस्कृत, प्रभा पुंज पूरत तेहिमाहीं,
हेम कलित सब करत, कछुक पै बदलत नाहीं
शब्द हृदयगत भावन के पौसाक बिराजैं,
जेते ठीकमठीक, सुघर तेते नित भ्राजैं;
उत्प्रेक्षा कोउ तुच्छ, उक्त करि शब्दाडंबर,
यों छबि देति गँवारि सजें ज्यों राज साजवर:
पृथक रीति अनुकूल पृथक विषयनिसुखमा मैं,
भिन्न बसन ज्यों ग्राम, नगर, औ राजसभा मैं·
किते पुरातन शब्द जोरि भये कीरतिकामी,
पदन माहिँ प्राचीन, अर्थ मैं नवपथगामी;
ऐसी ये श्रमसाध्य अकारथ बस्तु, नकारी,

ऐसी रीति विचित्र माहिँ बिरचित बरियारी,
मूरख के उर माहिँ मृषा अजगुत उपजावैं,
पै पंडित परबीनन कोँ केवल बिहँसावैं·
दरसावत, भँाड़न लोँ, ये दुर्भाग भडंगी,
सुघर सुजन कल कौन बसन कीन्यो हो अंगी;
औ बस यों प्राचीनन कोँ अनुहरहिँ, भगल भरि,
ज्यों सत्पुरुषन कोँ बानर, तिनके बागे धरि·
शब्दऽरुबसनरीति दोउन की इक गुर मानो,
अति नव, कै प्राचीन, एक सो बेढब जानो;
बनहु प्रथम जनि नव टिकसाल चलावनहारे,
तथा न अन्तिम तजन माहिँ प्राचीन किनारे·

पै बहुतेरे काव्यजाँच मैं छन्दहि देखैं,
सुढर, कुढर पैं, सुद्ध असुद्ध ताहि नित लेखैं;
दिव्य सरस्वति माहिँ सहस लावन्य जदपि हैं,
ये कनरसिये मूढ़ सराहत स्वरहि तदपि हैं;
जो सुरगिरि पर चढ़त नाहिँ निज चित्त सुधारन,
बरन परम सामान्य श्रवनसुखही के कारन;
ज्यों केते हरि कथा मंडली मैं आवैं नित,
संचन सुभ उपदेस नाहिँ बरु गान सुनन हित·
ये केवल चाहत माचा एकहि सी आवैं,
जदपि खुले स्वर बहुधा श्रवनहिँ अति उकतावैं;
त्यों अपनी बलहीन सहाय अधिक पद ल्यावैं;
औ इक शिथिल चरन मैं क्षुद्र शब्द दस आवैं:
औ उत वे जब एकहि लय को चक्कर साधैं,
औ नित बँधे अनुप्रासन कोँ निश्चय नाधैं;
जहँ जहँ सीतल, मन्द पौन पच्छिम सोँ आवत,

तहँ तहँ पूरि परागपुंज परिमल बगरावत;
जो कहुँ सरिता बिमल बहति, गति मन्द, सुहाई,
तौ तहँ कंज, सिवार, मीन सोहत सुखदाई,
अन्त माहिँ, दल जुगल मात्र पूरित करि, राखत
कछुक अनर्थ बस्तुसोँ, जाहि उक्त ये भाषत,
सोई दोहा हथा पूर्णआहुति करि डारै,
डेढ़ टाँगवारन लौँ भचकि भचकि पगधारै·
देहु तिन्हें अपने अनवीकृत लय, तुक जोरन,
औ सामान्य सुढर, मढियल को ज्ञान बटोरन;
तथा सराहौ ता तुक "की सुं सहज प्रौढ़ाई,
जामैं ओज पजनको, ठाकुर की मधुराई·
साँची सुभग सरलता जो कबिता मैं, भावै,
अभ्यासहि सोँ होहि न ऐसहि औचक आवै;
जैसे वे, जिन सीख नृत्य विद्या की पाई,
चल फिर करत सहजतम भाँति, सहित सुघराई·
एतोही नहिँ इष्ट सदा कबिता मैं, भाई,
कै कर्कषता सहृदय कोँ न होहि दुखदाई,
परमावश्यक धर्म, बरन, यह सुमति प्रकासैं,
कै रचना के शब्द अर्थप्रतिध्वनि से भासैं:
चहियत कोमल बरन पवन जहँ मन्द बहत बर,
सरिता सरल चाल बरनन हित छन्द सरल तर;
पै भैरव तरंग जहँ रोरित तट टकरावैं,
उत्कट, उद्धत बरण, प्रबल प्रवाह लौँ आवैं;
जहँ रावन लै जान चहत हठि हरगिरि भारो,
होहि छन्दगति क्लिष्ट शब्दहु शिथिलित चारो;
पै ऐसो नहिँ जहँ हनुमत धावन बनि धावत,

नांघत सिन्धु निसंक, लंकगढ़ कूदि जरावत·
देखौ किमि भवभूतिकाव्यवैचित्र लुभावै,
सब प्रकार के भावन की तरंग उपजावै।
जब प्रति पलट माहिँ दशरथ सुत नई रीति सोँ,
कबहुँ तेज सोँ तपत, कबहुँ पुनि द्रवत प्रीति सोँ;
कबहुँ नैन बिकराल क्रोध की ज्वालनि जागैं,
कबहुँ उसास उठैं औ बहन आँस दृग लागैं·
सब देसन मैं निज प्रभाव नित प्रकृति बगारति,
विश्व विजयतनि कोँ शब्दहि सोँ जय करि डारति;
शब्दमाधुरीशक्ति प्रबल मन मानत सब नर,
जैसो हो भवभूति भयो तैसो पदमाकर·

अति सोँ बचौ; तथा त्यागौ उनकी दूषित गति,
जो रीझैं अत्यन्त न्यून, कै सदा अधिक अति·
क्षुद्र छिद्र खोजन सोँ इत्तिहिं रखहु घिनाई
प्रगटत यह गुमान गुरुता, कै मति लघुताई;
वे मस्तिष्क, उदर ज्योँ, निश्चय उत्तम नाहीं,
सबहि अरोचक, पै कछुपचि न सकत, जिन माहीं·
पै प्रति श्रोपित उक्तिहुँ देहु न मोह उमाहन;
विस्मित मूरख होत, विबुध को काज सराहन:
ज्यों कुहरे मैं लखैं बस्तु गुरु देति दिखाई,
त्यौं गौरवाभासप्रदशील सदा शिथिलाई·

कितै विदेस, देस कवि सोँ केतै घिन मानैं;
केवल प्राचीननि, कै आधुनिकनि भल जानैं·
या विध सोँ, प्रति व्यक्ति, धर्मलौं, कविनिपुनाई,
इक समाज मैं गुनैं, अपर सब नष्ट सदाई·
चहत नीच इहिँ सम्मति मूँदि एक ठाँ ठासन,

बरबस एक देस या रबि की प्रभा प्रकासन,
जो न बुधन कों दक्खिन ही में महत बनावै,
पै शीतल उत्तर देसहु में बुद्धि पकावै;
जो गत जुगन माहिं आदहि सों भयो उदै है,
करत प्रकासित वर्त्तमान, भाविहु गरमै है;
जद्यपि प्रति जुग उन्नति औ अवनति अवरेखैं
कबहुँ दिव्य दिन लखैं, कबहुँ अति धूमिल देखैं·
तातैं कवितानवप्राचीनबिचार न कोजे,
पै असदहिं निन्दा, औ सदहिं सदा जस दीजे·

किते न अपनो निज बिबेचना कबहुँ उमाहैं,
पै केवल निज नगर माहिं प्रचलित मत आहैं;
ये तर्कहिं लहि लीक, तथा सिद्धान्त सुधारैं,
भुसे निरर्थहिं गहैं, न सोऊ आप निकारैं·
किते न रचना, पै रचता के नामहिं जाँचैं,
औ लेखहिं नहिं, भलो बुरो बरु मनुषहिं खाँचैं·
यह सब नीच झुंड में सो अति अधम अभागो,
जो सघमंड मन्दता सों धनिकनिपच्छलागो;
बड़नसभा को नियत बिबेचक नितप्रतिवारी,
प्रभुहितलागि व्यर्थ बकवादहिं ढोवन हारी;
महादरिद्र बतावहि सो शृंगारसवैया,
जाको कोउ भुक्खड़ कबि कै हम तुम रचवैया !
देहु, बेर इक, कोउ धनिकहिं, पै तिहिं अपनावन,
झलकन प्रतिभा लगति, कान्तिमय रीति सुभावन !
ताके नाम पुनीत सामुहें दोष उड़त सब,
डहडहात प्रति खंड पूरि वासनावसितफव·
यों बहकत गँवार अनुसरण कियें, बिन जोखे;

त्यौं पण्डित बहुधा सब जग सों होइ अनोखे·
रखत सर्वसाधारण सों घिन यों, जो कहुँ वह
चलैं सुपथ, तौ जानि बूझि के चलैं कुपथ यह;
सूधे बिश्वासिनि त्यौं तजहिं धर्मनवग्राही,
नष्ट होहिं, बरु बुद्धि अधिक अति के ह्वै बाही·
किते प्रसंसत प्रात ताहि, निसि जाहि बिनिन्दत,
पै निरधारत सदा यथारथ निज अन्तिम मत·
उपबनिता लौं ये सदेव कविता सों बिहरत,
छन सब बिध सनमानत, पुनि दूजे छन निदरत;
जब इनके निर्बल मस्तिष्क, कोट बिन पुर लौं,
प्रति दिन बूझ, अबूझ बीच बदलत स्वपच्छ कौं·
औ कारन बूझौ तो कहैं बुद्धि अधिकाई,
तौ अधिकैहै आजहु तें कल बुद्धि सवाई·
पुरुषनि मूरख गनैं, बनैं हम इमि बुधिधारी,
निश्चय त्यौं गनिहैं हमकौं सन्तान हमारी·
गये हुते भरि, या उत्साही देस अनादी,
एक बेर बहु धर्म्माचार्य बितंडाबादी;
उन में सब सों अधिक बाक्य जाकै मुख मंडित,
सोई मान्यो गयो सबनि तें गुरुतर पंडित:
धर्म, बेद, सबही बिबाद के जोग थिराये,
काहू में नहिं मति एती कै जाहिं हराये·
पै अब बसे शान्त ह्वै शंखादिकमतवारे,
निज अनुहारो घोंघन माहिं समुन्दर खारे·
जब धर्महि धाक्यो बसननि बहु रंगबिरंगी,
कहा अचंभो तो जो होहिं बुद्धि बहु ढंगी ?
बहुधा तजि तेहि जो स्वाभाविक औ सुयोग्य अति,

प्रचलित मूरखताही जानि परति तत्पर मति;
औ लेखक निर्विघ्न लाभ जस को अनुमानैं,
जियत तबहि लौं जो जब लौं मूरख मनमानैं.

केते निज दल, औ मतिवारन कौं सनमानैं,
निजहिँ सदा परिमान मनुष्य जाति को जानैं.
औ लुभाय के गुनैं करत गुन को आदर तब,
औरन के मिस आत्मश्लाघाही उचरत जब.
कबिताईतउ होति राजनैतिक अनुगामिनि,
औ सामाजिक पच्छ बढ़ावत चिन निजधामिनि.
गर्ब, द्वेष, मूरखता, तुलसी पैं चढ़ि धाये,
धर्मध्वज, रसलंपट, जाँचक, भेस बनाये:
भई सुमति थिर पै हाँसी औ खेल थिराये;
उन्नतिशील योग्यता उभरति अन्त दबाये.
पै जो वह पुनि आय हमैं द्रगलाहु लहावै,
तो नव खलऔसठसमूह उठि खंडन धावै:
बरु बर बालमीकि ह्व जो अब सीस उठावै,
तो कोउ दोषद्रष्टि निश्चय निज जोभ चलावै.
गुनहिँ द्वेष नित ताको छाँह सरिस पछियावै,
पै छाया लौं सार बस्तु को सत्य थिरावै:
द्वेषघिरे गुन राहुग्रस्तदिनकर लौं भावैं,
नहिँ निज बरु रोकहि को कलमसता दरसावैं.
पहिलें जब यह रबि निज प्रखर किरण दरसावै,
खीचहि भापपुंज जो याको छटा छिपावै;
अन्त माहिं पै सो घन ह्व तेहिपथहिं सजावै,
प्रतिबिम्बित नव प्रभा करै द्युति दिव्य बढ़ावै.

छोड़ु अवसर करिबे मैं सदगुण उत्साहन;

तब को श्लाघा व्यर्थ, लगे जब जगत सराहन·
वर्तमान कबिता है, हाय, अल्प अति वय मैं,
तासों, उचित जिवैबो तेहिं, अनुकूल समय मैं·
अब न दिखाई देत काल वह सुभ सुखदाई,
वर्ष सहस लौं जियत हुतो जब कबिकबिताई;
अब जस की चिरकालस्थिति सब भाँति बिलानी,
कोड़ो तीनहि को बस होय सकत अभिमानी;
नित भाषा मैं खोट लखति सन्तान हमारी,
लहिहै सोइ गति देवहु अन्त चन्द जो धारी·
जैसें सुह लेखिनी जब कोउ डौल बनावै,
चतुर चितेरे को हियभाव दिव्य दरसावै,
जामैं इक नव सृष्टि जगति ताकी इच्छा पर,
तथा प्रकृति तत्पर आधीन रहति ताके कर;
जब परिपक्व रंग कोमल ह्वै मेल मिलावैं,
उचित मन्दता, चटक, माधुरीजुत द्युति, पावैं,
जब मृदुताप्रदकाल परम पूरणता पागै,
औ प्रति उपाकृति मैं जीव परन जब लागै,
रंग बिसासी होत कला को तब अपकारो,
सनैसनै मिटि जाति सृष्टि सब जगमगवारी·

हतभागिनि कबिता भ्रमदा बसुन लौं भावै,
प्रतिकारै नहिं ताहि द्वेष जो सो उपजावै·
तरुनाइहि मैं नर असार कीरतिमद धारै,
सो छनभंगुर मृषा दंभ पै बेग सिधारै;
ज्यौं कोउ सुन्दर सुमन बसन्तागम उपजावै,
जो प्रमुदित ह्वै खिलै, खिलत पै मुरझनि पावै·
कहा वस्तु कबिता जामैं दीजै एतो चित ?

निज पति की पत्नी, पै जिहिँ उप्पति भोगत नित;
जब अति अधिक प्रसंसित तब अति श्रम अधिकाई,
जेतो अधिक प्रदान होहि तेतियै खुजाई;
जाकी कीरति कष्टरच्य, अरु सहज नसौनो,
अवसि खिजौनी किते, पै न सब कबहुँ रिझौनो;
यह वह जासों आछे बचें बुरे भय धारैं
मूरख जाहि घिनाहिँ, धूर्त नष्टहि करि डारैं!

जब चातुरिहिँ अविद्यहि सों एतो दुख पावन,
देहु न विद्या हू कों तासों बैर जगावन·
होत पुरस्कृत हुते श्रेष्ट प्राचीन काल मैं,
तथा प्रसंसित सो, जो सुभ उद्योग चाल मैं:
जदपि होत है सेनापतिहि छत्रअधिकारी,
तदपि मिलत हो मुकुट, सेनिकहुँ, सोभाकारी·
अब जे उच्च हिमाचलतुंगशृंग पर आवैं,
निज श्रम कोज और के पात करन मैं लावैं;
करत आत्महित इत प्रति आतुर कबिहिँ खचारी,
उत मूढ़न कों खेल होति बुधि झगड़नवारी:
पै नित अधम प्रसंसा करिबे मैं दुख मानैं,
जेतहि लेखक तुच्छ तितोही अनहित आनैं·
केहि कुत्सित फल ओर, तथा किहि नीच रीति सों,
नश्वर उद्यत होत कीर्ति की अतज प्रीति सों!
अहह कबहुँ इमि असुभ प्रतिष्ठा तृषा न धारो,
तथा बिबेचक बनि मनुष्यता नाहिँ बिसारो·
सुभस्वभावऔसुमतिमिलाप निरंतर ठानो,
चूकभरो नर प्रकृति, छमा देवो गुन जानो·
पै जो उर उदार मैं गाद रहै कछु छाई,

जासों द्वेष तथा आमर्षमैल न थिराई;
तो ता क्षोभहिँ कोउ अति असह्य दोष पैं डारी,
या कुकाल मैं ताको नाहिँ अकाल बिचारी·
अधमाश्लील कैसहूँ नाहिँ क्षमा अधिकारी,
उक्ति, जुक्ति जद्यपि चितवृत्ति लुभावनहारी;
शिथिलपनो अश्लीलताहिँ मिलि यों घिनसान्यो,
मानो क्लीव कोउ कुलटा के प्रेम समान्यो·
सुख, सम्पति, औ चैनकलित सुटवास काल मैं,
उपजो यह दुख घास, तथा बाढ़ो उताल मैं:
हुतो चोप प्रेमहि की जब चैनी नृप माहीं;
जात हुते बिरलय ही सभा, कबहुँ रण नाहीं:
पुन्सचलिनकर हुते राजसासन के ताने,
प्रहसन लिखिबे माहिँ राजकाजी अरुझाने;
एतोये नहिँ जब सुकबिन बरु पिनसिन पाई,
औ नव राजकुमार करनलागे कबिताई:
दरबारिनकृत नाटक पर सुन्दरि हँसि लोटति,
कोउ नकल बिन अभिनय भयें रही नहिँ खोटति:
घूँघटओट सुशील नाहिँ अपनो छबि छाजति,
लगीं हँसन कन्या तापैं जासों ही लाजति·
बहुरि बिदेसोन्नृपराज्याधिकारअमनेकी,
दीन्हो पूरि पंक उद्दण्ड बिधर्मपने की;
नैष्ठारङ्कित पुरोहित लगी समाज सुधारन,
मुक्तिप्राप्तिसुखसाध्यरीति की सीख प्रचारन;
दैवखतंत्रप्रजा जेहिँ होहिँ सत्व निरधारी,
होहि कदाचित जो जगदीसहु अत्याचारी:
उपदेसकहु उठायरखन निन्दा सुभ सीखे,

दुष्ट सराहे, करन हेत निज श्लाघी तीखे !
कबितवृष्टिसंपाति भाँति या चोपचढ़ाये,
सहितघमंड भान मंडल चढ़िबे कों धाये;
औ मुद्रालय कठिन लोह को छातिन वारे,
असद, अरोक भँड़ौवन के भारन सों हारे·
इन राकसनि, कुतर्किनि लै निज अस्त्र प्रचारो,
उत साधौ निज बज्र, तथा निज छोभ निकारो !
तिन कुबानि पै त्यागहु, जो खुचुरो निन्दारत,
जो बरबस कबि को भ्रम सों दोषी निर्धारत;
दूषनमय दिखराय सबै दोषी जो देखै,
जैसें पाण्डुरोगवारो सब पीरोहि पेखे·

लखो जाँचकनि उचित कहा आचार सिखैबो,
न्यायक को आधो करतब बस ज्ञान कमैबो·
रसअनुभव, विद्या, बिबेकहो सब कछु नाहीं,
जो भाषौ हियस्वच्छ, सत्य दमकै तेहिं माहीं:
एतोहि नहिं, कै, जग मानै जो तुम्हैं सुहानौ,
पै तुमहू औरन सों मेल मिलावन जानौ·

मौन रहो नित जब तुमकों निज मति पैं संसय,
औ संसय लै बात कहो जद्यपि दृढ़ निश्चय:
केते ढीठ, हठी अडंबरी देखि परत हैं,
जो जदि कहुँ भूलैं तो सोई टेक धरत हैं;
पै तुम अपनो भूत चूक सानन्द सकारो,
औ प्रति द्योसहिं गत दिन को सोधक निरधारो·

एतोहो नहिं इष्ट, होहि सम्मति सदचारी,
सुघर झूट सों भोंड़ो सत्य अधिक अपकारी;
ऐसें सिखवहु नरनि मनो तुम नाहिं सिखायो,

यों अज्ञात पदार्थ लखावहु मनहु भुलायो·
बिना सुसीख सत्य नाहिँन उचितादर पावै;
केवल सोई श्रेष्ट बुद्धि पर प्रेम जगावै·

सम्मतिदान माहिँ कैसहु न सूमपन ठानो;
कृपिनाइन मैं बुद्धिकृपिनता, अधम प्रमानो·
क्षुद्र तोष हित निज कर्तव्य कदापि न छोरो,
होहु न इमि सुशील कै सुख न्यायहि सोँ मोरो·
करहु नेकु भय नाहिँ बुधन के क्रुद्ध करन को,
होत सहिष्णु स्वभाव प्रशंसापात्र नरन को·

या अधिकार बिबेचक धारि सकै जो नितप्रति,
तो यामैं संसय नहिँ होय जगत को हित अति;
लाल होत पै, लखहु, आत्मश्लाघी अति क्रोधी,
जब काहू सोँ सुनत कहूँ कोउ शब्द बिरोधी,
घूरत अति विकराल कियें नैननि भयकारी,
ज्यों प्राचीन चित्र मैं कोउ नृप अत्याचारी·
मूढ़ प्रतिष्ठित के छेड़न सोँ अति भयधारी,
जाको सत्व अटोक करन नित काव्य न कारी·
ऐसे हैं प्रतिभाविहीन कवि, जो मनभावत,
ज्यों वे जे बिन पढ़े परीक्षा सोँ तरि आवत.
बादि भँड़ौवन पैं छोड़ो सदबाद भयंकर,
औ सुश्रूषा मृषा समर्पक बाचालो पर,
करत नाहिँ बिश्वास जगत जिन की श्लाघा पर
जिनके कबिताईत्यागनप्रन पर सोँ गुरुतर.
कबहुँ दुष्ट अति रखन रोकि निज ताड़नि बानी,
औ भद्दन कोँ होन देन मिथ्या अभिमानी:
गहिबो मौन भलो बरु तिन पैं सतरे वे सोँ,

तब लोँ निन्दि सकै को सकहिँ खँचै यह जब लोँ ·
भनभनात थे सदा अंधदाई गति साजैं,
लतियावहु जितो लट्टुनलोँ तितहि गाजैं.
चूक उन्हें फिरसोँ टोड़न के हेत उभारे,
ज्योँ अँड़ियल टट्टू गिरिकै पुनि चाल सँवारे.
कैसे इनके झुंड सकुचबिनसाहसमाने,
शब्द तथा मात्राखटपट मैं अरुझि बुढ़ाने,
धावा करैं कबिन पैं भरे छोभ नसनस लोँ;
तरकट लोँ औ दाबिकढे मस्तिष्ककुरस लोँ,
अपनी बुधि को शिथिलित अन्तिम बूंद निचोरत;
औ क्लोवन को सो करि क्रोध क्रूर तुक जोरत.

ऐसे निपट निलज्ज कुकबि जग माहिँ घनेरे,
पै तैसेही मत्त, पतित जाँचक बहुतेरे·
ग्रन्थग्रथित गुट्ठलमति, मूरखताजुत पंडित,
विद्यापोटअपारभार सिर धरेँ अखंडित,
निज मुखही सोँ निजश्रवनहिँ नित बिरद सुनावैं,
औ अपनी ही सुनत सदा लखिबे मैं आवैं·
सब ग्रन्थनि वे पढ़ैं, पढ़ैं जो सो सब लूसैं:
तुलसीकृत सोँ सुवा बहत्तरि लोँ सब ठूसैं:
इन लेखेँ चोरैं, मोलैं, बहु ग्रन्थ रचैया;
लिखो बिहारी लाल नाहिँ दोहा सतसैया.
सनमुख उनके कोउ नव नाटकनाम उचारो,*
तो झट बोलैं, "कबि याको है मित्र हमारो;"
एतहि नहिँ बरु कहैँ, दोष यामैं हम काढे,
कब काहू को सुनि सुधरत पै कबि मदबाढे?
कैसहु ठाम पवित्र रोक इनकोँ कहुँ नाहीँ,

मरघट सों रचा न अधिक कोउ तीरथ माहीं:
देवल हू में गयें बादि बकि ये हतिडारैं:
मूरख धँसैं निसंक सुमन जहँ डरि पगधारैं.
सुमति ससंक, सुशील, सावधानी सों बोलै,
सदा सहज लखि परै, चढ़ाई लघु पर डोलै;
पै दुरमति घहराय बाढ़ बकबक की छोरै,
औ कबहूँ ठठकै न औ न कबहूँ मुख मोरै,
यामें थमति न नेकु, भरी अतिसय उमाह सों,
चलति छोड़ि मर्याद प्रबल रोरित प्रवाह सों.

कहाँ मिलत पै ऐसो सज्जन सुमति प्रदानो,
सीख देन में मुदित, ज्ञान को नहिँ अभिमानो?
विकृत न राग, द्वेष सों, अंधो शुद्धहु नाहीं;
पहिलहि सों न सढील पच्छ धारैं उर माहीं;
पंडित तऊ सुशील, सुशील तऊ कपटारी,
निडर नम्रता सहित, दयाजुत दृढ़व्रतधारी;
सकै दिखाय मित्र कों जो तेहिदोष असंसै,
औ सहर्ष सत्रुहु के गुन को भाषि प्रसंसै?
धारैं रसअनुभव यथार्थ, पै नहिँ इकअंगी;
ग्रन्थनि को औ मनुष प्रकृति को ज्ञान सुढंगी;
अति उदार आलाप; हृदय अभिमान बिहीनो;
औ मन सहित प्रमाण प्रसंसा रुचि सों भीनो?

पहिले ऐसे रहे बिबेचक; ऐसे सुचिमन,
आर्यावर्त में भये सुभग जुग में कति पय जन.
भरत महामुनि अचल ध्यानमन्दर धरि लीन्यो,
पारावार अपार मनन को मन्थन कीन्यो;
काव्यकलासाहित्यनियमवररतन निकारे,

देस, प्रदेसनि माहिँ, कृपा उर आनि, बगारे·
कबि जो चिरकालीन निरंकुश, औ मन माने,
नित स्वतंत्रतां अनघड़ की रुचि औ मद साने,
माने वे बर नियम, बात यह उर निरधारी,
बस कीन्हो निज प्रकृति सुमति सासन अधिकारी·
श्री जयदेव अजौँ स्वाच्छन्द ललित सोँ भावै,
श्री क्रम बिनहू पाठक कोँ मृतिपाट पढ़ावै,
उर उपजावै, मित्रन लोँ, सुभ सरल प्रीतिसोँ,
अति सुन्दर, सद भाव भव्य, अति सहज रीतिसोँ·
सो जो श्रेष्ट काव्य मैं ज्योँ, बिबेकहू मैं त्योँ,
करि सकत्यो खंडनहू उदंड, उदंड लिख्यो ज्योँ,
जाँच्यो तदपि सशान्ति, जदपि गायो उमाहरत,
सोइ सिखवत तेहि वाक्य, काव्य जो हिये जगावत:
आज काल के जाँचक पै उलटी गति धारैं,
जाँचैँ भरि औधत्य, लेख पै शिथिल सँवारैं·

लखहु मुकुन्ददास शुकदेव भणित परकासत,
प्रति पंक्तिन सों नये नये लावन्य निकासत·

कालिदास मैं शक्ति, चातुरी दोउ कवि छावैं,
विद्वज्जन पांडित्य, सुसभ्य सहजता भावैं·

अति गँभीर औदार्य महान ग्रन्थ मैं शोभित,
परम युक्ततम नियम रु क्रम सपष्टतम मिश्रित·
ज्योँ उपकारी अस्त्र जात अस्त्रालय धारे,
सब क्रम सोँ जतबद्द, सुघरता सहित सम्हारे,
पै न दृगनसुख हेत, बरन कर के बाहन हित,
नित प्रयोग के योग, तथा इच्छति उपस्थित.
उद्दत पंडित राजहिँ कियो कला सब मंडित,

निज बिबेचकहिँ दई दिव्य कविगिरा उमंडित:
उत्तेजित जांचक जो निज करतब मैं उद्यत,
ह्वै तातो सम्मति दै, पै नित रहत न्याय रत,
उदाहरण निज जाको जाके नियम दृढ़ावै·
औ आपुहि सो अति महान जेहिँ लिखि दरसावै·
 आँचक परम्परा यों सुभ अधिकार जमायो,
दलि स्वाच्छन्दहिँ उपकारी नियमनि बगरायो·
विद्या, तथा राज, उन्नति इक संगहि पाई;
औ फैली अधिकारहि संग कला कुशलाई;
एकहि रिपु सों अन्त दुहुन की प्रलहन आई,
भारत औ विद्या एकहि जुग अवनति पाई.
अत्याचार संग सिर दुर्विश्वास उठायो,
वह तन कों ज्यों, त्यों यह मन कों दास बनायो;
बहुत जात माग्यो हो, औ जान्यो अति थोरो,
औ ढिठ्ठड़पन गन्यो जात उत्तमता बोरो;
या बिध दूजी प्रलय बहुरि विद्या पर आई,
तुर्कारंभित बिपति, समाप्ति द्विजन सों पाई.
 पै नागेस भट्ट अति माननीय बर पंडित,
विद्वज्जन मंडलिहिँ करन गौरव सों मंडित,
तेहि अवनतिरतकालप्रवाह प्रबल्न ठहरायो,
रंगभूमि सों मृषा विडंबिन कों बहरायो.
 बिट्ठलेस गोस्वामी के सुभ समय, निवारति
सारद निद्रा, त्यक्त बीन, पुस्तक पुनि धारति;
भारत की प्रतिभा प्राचीन बहुरि तहँ छाई,
भारी धूरि, तथा ताकी बर ग्रीव उठाई·
गई शिल्प, औ तेहि अनुरूप कला उद्धारो;
पाहन आकृति लई भये गिरि जीवनधारो:

मृदुतर स्वरसों उठ्यो गूंजि प्रति मन्दिर भायो;
तानसेन गायो औ प्रभुयश सूर सुनायो,
अमर सूर जाके सुन्दर उदार उर माहीं;
काव्यतथासाहित्यकला उपजीं इकठाहीं :
केवल ब्रजहिं न श्रेष्टनामतुव गौरव देहै,
वरु भारतसन्तान सबै नित तवगुन गैहै.
  प्राकृत भाषन माहिं चलन बानी पुनि पाई,
गई फैलि चहुँ ओर अथोर कला कुशलाई;
ब्रजभाषा मैं लागी होन सुखद कविताई,
बहुत दिनन लौं रही निरंकुशता, पर छाई.
बिना संसकृत जातहुत्यो नाहिँन कछु जान्यो,
औ यथेष्ट पढ़िबो ताको हो अति श्रम सान्यो;
भाषा सों घिन मानत हुते संसकृतवारे,
'भाषा जाहो साहो,' गुनत न हे मतवारे;
औ उदंड भाषाकवि काव्य करत मनमाने,
सुनत गुनत नहिँ संसकृतिन के नियम पुराने·
पै ऐसे कछु भये मंडलो बुधिवारी मैं,
न्यून गर्व मैं जो औ बढ़े जानकारी मैं,
जो साहसकरि भे प्राचीन सत्व के बादी,
औ थिर थापे काव्यकलासिद्धान्त अनादी·
जाको है यह वाक्य, महा कवि ऐसो सो हो,
"उक्ति विशेषो कब्बो, भाषा जाहो साहो·"
ऐसो केशव ज्यों पण्डित त्योंही सुशील बर
जैसो श्रेष्ट कुलीन उदार चरित तैसो घर;
सुभग संसकृतबरसाहित्यज्ञान जेहि माहीं,
प्रति कबि को गुनमान, गर्व अपने को नाहीं·
ऐसो अबहि भयो हरिचन्द मित्र कबिता को,

जाननहारो उचित पन्थ अस्तुति, निन्दा को·
क्षमाशील चूकन पैं, औ तत्पर गुणग्राही,
अतिशय निर्मलबुद्धि, तथा हियशुद्ध सदाही· *
पै अब केते भये हाय इमि सत्यानासी,
कबि औ जांचक रसअनुभव सों दोऊ उदासी;
शब्द, अर्थ को ज्ञान न कछु राखत उर माहीं,
शक्ति, निपुनता औ अभ्यास लेसहु नाहीं·
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत विवेक बिन,
अहंकार सों भरे फिरत फूले नित निसिदिन,
जोरि बटोरि कोउ साहित्य ग्रन्थ निर्मानै,
अर्थ ग्रन्थ कहुँ कहूँ विरोधी लक्षण ठानै;
जानत हू नहिं कहा अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव;
बनि बैठत साहित्यकार आचार्य स्वयंभव·
जात खड़ी बोली पैं कोउ भयो दिवानो,
कोउ तुकान्तबिनपद्य लिखन मैं है अरुझानो;
अनुप्रासप्रतिबंध कठिन जिनके उर माहीं,
त्यागि पद्यप्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं?
अनुप्रास कबहूँ न सुकबि की शक्ति घटावैं,
बरु सच पूछो तो नव सूझ हियेँ उपजावैं·
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखैं फीके,
माँगहिं बिधना सोँ ते श्रवन मानुषी नीके.
हम इन लोगन हित सारद सोँ चहत बिनय करि,

* पीप साहिब के ग्रन्थ का अनुवाद यहीं तक है। इसके आगे अनुवादकर्ता ने आजकल के भाषाकवियों और समालोचकों का कुछ विवरण स्वतन्त्र रीति पर लिखा है। इस बात पर भी ध्यान रहै कि इस अनुवाद में नाम भारतवर्षीय लोगों के योरोपीय नामों के स्थान पर रख दिये गये हैं।

काहू विध इनके हिय की दुर्मति दीजै दूरि;
जासों ये साँचे आनँदप्रद सों सुख पावैं;
औ हठ करि नित औरन हूँ कों नहिं बहकावैं;
होहिं बहुरि सद कवि औ काव्य कला सुखदाई,
रहै सदा भारत में उन्नति की अधिकाई।

इति

पोप कवि की संक्षिप्त जीविनी।

(यह पद्यमय लेख अंगरेज़ी के सुप्रसिद्ध क़बि पोप साहेब के 'एसे आन क्रिटिसिज़्म' का अनुवाद है, अतएव, उक्त महाशय का कुछ जीवन चरित्र भी इसके साथ पाठकों की सेवा में उपस्थित करना उचित समझ कर, बीटन साहेब की डिक्शनरी में लिखी हुई उनकी संक्षिप्त जीविनी का उल्था प्रकाशित किया जाता है)

अलेक्ज्याण्डर पोप इंगलिस्थान के एक सुप्रसिद्ध कवि थे, जिनके पिता स्ट्राण्ड में बज़ाज़ी करते थे। अपने माता पिता के रोमनक्याथोलिकमतावलंबी होने के कारण वह आठ वर्ष की अवस्था में एक ट्यावर्नर नामक पादरी के आधीन कर दिये गए, जिसने उनको ल्याटिन तथा ग्रीक भाषाओं की उपक्रमणिका की शिक्षा दी। उस समय वह आगिल्बीकृत होमर के अनुवाद को देख कर ऐसे उस पुस्तक पर रीझे कि वह उनका बड़ाही प्यारा ग्रन्थ हो गया, और दश वर्ष की अवस्था में जब कि वह पाठशाला में पढ़ते थे, उन्होंने होमर के ग्रन्थ के कई एक विषयों का एक नाटक बना डाला, जिसको उच्चवर्ग के छात्रों ने खेला और जिसके अभिनय में मास्टर का माली अज्याक्स बना। बारह वर्ष की अवस्था में वह अपने माता पिता के साथ बिन्फील्ड को चले गए (जो कि विंड्सर फ़ारेस्ट में है) जहां उनके पिता ने एक भूमि मोल ली थी। इस स्थान पर उन्हों ने कबि बनने का बिचार किया, और अपना 'ओड आन सालिट्यूड' (एकान्तबास बिबरण काव्य) लिखा, जो कि उनकी काव्यशक्ति के प्रथम फल के रूप से विद्यमान है। इसी स्थान पर उन को पहिले पहल वैलर, स्पेन्सर तथा ड्राइडेन के ग्रन्थों से परिचय हुआ, परन्तु ड्राइडेन की रचना पढ़ने पर उन्होंने और सभों का परित्याग कर दिया और उसको अपने काव्य

का परिमाण मान कर अध्ययन किया । सोलहवें वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने 'पेस्टोरल्स' (ग्राम्यजीवन विवरण काव्य) लिखे, जिसके पश्चात, शीघ्रही, 'एसे आन क्रिटिसिज़्म,' 'रेप आफ़ दि लाक,' तथा 'विंडसर फ़ारेस्ट.' प्रकाशित हुए। 'एसे आन क्रिटिसिज़्म' (जिसका कि यह लेख अनुवाद है) कर्त्ता की अवस्था युवा होने पर भी, अंगरेज़ी भाषा में एक श्रेष्ठतम कविता है, और गंभीरतम नियमों से पूरित है, परन्तु रेप आफ़ दि लाक में उनको काव्यशक्ति का चमत्कार कुछ और भी अधिक प्रकाशित हुआ। उस कविता की मूल घटना, मिसेज़ फ़र्मर के केश की एक लट के लार्डपिटर के द्वारा काटे जाने से, प्राप्त हुई थी। सन १७१२ ई० के आस पास (जब कि वह अपने पचीसवें वर्ष की अवस्था में थे,) उन्हों ने इलियड के अनुवाद करने की इच्छा का विज्ञापन दिया, जिस पर उनका उत्साह ऐसा परिवर्धित किया गया कि ट्विकनहाम में वह एक घर क्रयकर सके, जहां वह सन् १७१५ में अपने माता पिता के साथ जा बसे। ईलियड के समाप्त होने पर उन्हों ने 'ओडेसी' का अनुवाद करना उठाया, जिसमें फिर उन को अति उदार बेहरी प्राप्त हुई। उस ग्रन्थ में उन को ब्रूम और फिनटन की विद्वता और योग्यता से निस्सन्देह सारगर्भित सहायता प्राप्त हुई। सन् १७२१, में पोप ने शेक्सपियर की रचनावली की एक पुनरावृत्ति प्रकाशित की। उस यश ने, जो कि उनको अपनी रचना की कृतकार्यता तथा योग्यता द्वारा प्राप्त हुआ था, क्षुद्र श्रेणी के लेखकों में उनके अनेक विद्रोही खड़े कर दिये, जिनके द्वारा उनको बहुधा अनेक द्वेषजनित आक्रमण सहन करने पड़े। उनका स्वभाव ऐसा अधिक उत्तेजनान्वित तथा ऐसा न्यून निजाधीन था, कि उसने उनको उन शत्रुओं पर ध्यान न देने की क्षमता न प्राप्त होने दी, और सन् १७२८ में उन्होंने अपनी क्षोभ को 'डांसियड' नाम की वीररसाभासमय काव्य रचना

द्वारा प्रकाशित किया, जिसमें कि उन्होंने जितना उचित था उस से अधिक बैर निकाला, और इससे भी बुरा कार्य यह किया कि उसमें उन्होंने कई एक सुयोग्य तथा शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों को उपहास का लक्ष्य बनाया, जिन्होंने उनका कोई अपराध नहीं किया था। सन् १७३३, में उन्होंने लार्ड बोलिंग ब्रोक के अनुराध से, अपनी लेखनी को एक नीति तथा दर्शन शास्त्र सम्बन्धी विषय में लगाया जिसका परिणामफल, 'एसे आन मेन,' (मनुष्य की आलोचना) प्राप्त हुआ, जो कि एक कर्तव्यशास्त्र सम्बन्धी काव्य रचना है, और राजनीतिज्ञ अनुरोधकर्ता के प्रति कही गई है। उस रचना पर कुछ विशेष कहना व्यर्थ है, क्योंकि उसके मुख्य सिद्धान्तों के विषय में चाहे जो कहा जाय, पर उस में सुन्दर कल्पनाएं तथा सारगर्भित सोभाएं निस्सन्देह सुसज्जित हैं। उन्होंने फिर कुछ ताड़ना कारी कविता लिखीं, जिनमें कई एक उच्चपद के व्यक्तियों पर आक्रमण किया। पोप अपनी रचनावली की एक पूर्णमाला प्रकाशित करने में लगे हुए थे कि श्वासरोग उनको संसार से उठा लेगया। दैहिक आकार में पोप लघु तथा वक्र थे, तथापि उनके मुख पर, उस समय को छोड़ कर जब कि वह अपने कुल के रोग-शीस पीड़ा से व्यथित रहते थे, बहुत क्रान्ति और सुघरता झलकती थी। उनकी मित्रताएं सिड़ से भरी हुई थीं, और उनके स्वभाव में अहंकार का भाग न्यून न था, जिस अभिमान तथा आत्महित पर और सब वासनाओं को वह तत्परतापूर्वक न्यवछावर कर देते थे। पोप की रचनाओं के सब से उत्तम छापे वारबर्टन द्वारा प्रकाशित नौ ग्रन्थ, तथा बाविल्स और रास्को द्वारा प्रकाशित आवृत्तियां हैं। पोप की सब से उत्तम और अन्तिम जीविनी, जी· डबल्यू· क्रूकर, तथा मिस्टर पिटर कनिंगहम के अधिकार में प्रकाशित हुई है। पोप लंडन में सन् १६८८ ई· में उत्पन्न हुए थे और सन् १७४४ ई· में मरे॥

जगन्नाथदास (रत्नाकर)